देखनेमें आश्चर्य एकेक । उसी विश्व-रूपमें जो एक ।
अनेकताका दर्शन-सुख । हुवा फल-प्रद ॥ ५ ॥

कहां हैं इसके चरण । कहां है मुकुट विस्तीर्ण ।
बढती इच्छा प्रतिक्षण । देखनेकी ॥ ६ ॥

रखी वहां भाग्य-निधि पार्थ । होंगे कैसे निष्फल मनोरथ ।
रखता क्या भातेमें बाण व्यर्थ । पिनाकपाणी ॥ ७ ॥

नहीं तो ब्रह्मदेवकी गिरापर । होते हैं क्या झूटे अक्षर ।
इसीलिये साद्यंत जो है अपार । देखा विश्व-रूप ॥ ८ ॥

नहीं होता जो वेदको आकलन । उसका सकलावयव दर्शन ।
एक समय करते हैं नयन । धनंजयके ॥ ९ ॥

चरणोंसे मुकुट पर्यंत । देखता है रूप-श्रेष्ठ पार्थ ।
नाना रत्नालंकार भूषित । झलक सुंदर ॥ २१० ॥

पर-ब्रह्म बना स्वयं भूषण । सजानेके लिये अपना तन ।
उन अलंकारोंका मैं वर्णन । करूं कैसे ॥ ११ ॥

उसकी जो प्रभा अतीव उज्वल । निखारती थी चंद्रादित्य मंडल ।
थी जो वह महातेजकी चित्कला । उससे प्रकटता विश्व ॥ १२ ॥

वह जो दिव्य-तेज शृंगार । किसीकी बुद्धिको हो गोचर ।
पहना हरि वे अलंकार । देखता पार्थ ॥ १३ ॥

शरीर था वही अलंकार । जो है हाथ वही हथियार ।
जो है शरीरी वही शरीर । स-चराचरमें वही ॥ १४ ॥

वही फिर ज्ञान दृष्टिसे निर्मल । देखता कर-पल्लव जो सरल ।
वहां तोडते जो कल्पांतक ज्वाल । ऐसे शस्त्र करमें ॥ १५ ॥

उसके किरणोंके स्फुलिंग । नक्षत्रोंको बनाते जो मूंग ।
उसके तेजमें छिपी आग । घुसती सिंधुमें ॥ १६ ॥

फिर कालकूट कल्लोलके तरंग । अथवा विद्युत्वनके विस्फुलिंग ।
दीखते हैं कर-पल्लव अभंग । उचितायुध-युक्त ॥ १७ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

विश्वरूपकी भयानकतासे विव्हल होकर दृष्टि मूंद लेना—

उस भयसे हठाकर दृष्टि । देखता कंठ मुकुट किरीटी ।
हुई है सुरतरुकी जो सृष्टि । मानो वहींसे ॥ १८ ॥

मूल-सिद्धीका जहां महा-पीठ । श्रांत कमलाका विश्राम मठ ।
ऐसे सुमनों से वह किरीट । सजा हुआ ॥ १९ ॥

मुकुट पर पुष्प स्तवक । तथा पूजा अंध जो अनेक ।
गलेमें झूलते अलौकिक । पुष्पहार ॥ २२० ॥

सूर्य तेजसे स्वर्गको लपेटना । मेरु-गिरिको सुवर्णसे ओढ़ना ।
वैसा था उसका भव्य पहनना । पीतांबार सुंदर ॥ २१ ॥

शंकरको कर्पूरसे लेपना । कैलासको पारदसे पोतना ।
अथवा सागरको ही ओढ़ना । क्षीरार्णवसे ॥ २२ ॥

अजी ! चंद्रमाकी तह खोलकर । आवरण डालना आकाशपर ।
वैसे ही था उसके सर्वांग पर । चंदन लेपन ॥ २३ ॥

स्व-प्रकाशकी आभा जिससे बढ़ती । तथा ब्रह्मनंदकी उष्णता मिटती ।
पृथ्वी है अपना अस्तित्व टिकाती । उस सुगंधसे ॥ २४ ॥

ब्रह्म जिसका लेपन करता । अनंग भी उबटन करता ।
उस परिमलकी जो महता । बखाने कौन ॥ २५ ॥

ऐसी श्रृंगर शोभा देखकर । विस्मित-सा रहा पांडुकुमार ।
यह भी न समझा देखकर । देव बैठा है या सोया है ? ॥ २६ ॥

दृष्टि खोलकर देखता बाहर । जब वही विश्व-रूप सभी ओर ।
आंख मूंदकर देखता ऊपर । तब भी वही रूप ॥ २७ ॥

सम्मुख देखें मुख अगणित । पीछे मुड देखा हो भयग्रस्त ।
वहां भी वही मुख पाया हाथ । तथा दिव्य-रूप ॥ २८ ॥

दिव्य वस्त्र पुष्प माला भूषित दिव्य गंधसे ।
सब आश्चर्यसे पूर्ण विश्व-व्यापी अनंत जो ॥ ११ ॥

देखनेसे दीखना है स्वाभाविक। ना कछु इसमें विस्मय-जनक।
किंतु न देखते भी दीखना एक। महादाश्चर्य ॥ २९ ॥

अनुग्रहकी यह कैसी करतूत। देखता या नहीं देखता वह पार्थ।
उसके सह कर लिया आच्छादित। नारायणने ॥ २३० ॥

पड़कर विस्मय प्रवाहमें। निकलकर किनारा छूनेमें।
उलझता आश्चर्य सागरमें। अनायास ॥ ३१ ॥

ऐसे ही उस अनंत-रूपके। अलौकिक दर्शन-कौशल्यके।
जालमें धनंजय उलझके। हो रहा विस्मित ॥ ३२ ॥

श्री कृष्ण विश्वतोमुख स्वभावसे। दर्शनार्थी जो पार्थकी प्रार्थनासे।
विश्वरूप हुआ है संपूर्णतासे। इस समय ॥ ३३ ॥

दीप या सूर्य-तेजमें है देखती। या आंख मूंदनेसे नहीं देखती।
वह दिव्य-दृष्टि ऐसी नहीं थी। दी जो श्रीकृष्णने ॥ ३४ ॥

पार्थ देखता तब दोनों ओर। आंख खोलकर या मूंदकर।
कहता नगरमें बैठकर। संजय राजासे ॥ ३५ ॥

कहता है "सुनो" यह संजय। विश्व-रूप देखता धनंजय।
नानाभरणयुत स-विस्मय। विश्वतोमुख ॥ ३६ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

नंत सूर्योंसे भी वह तेजस्वी रूप—

उस देवके जो अंग-प्रभाकी। बात कहनी है सो कहनेकी।
जैसे द्वादशादित्य मिलनकी। प्रभा-सी कल्पांतमें ॥ ३७ ॥

अजी! सहस्रावधि दिव्य-सूर्य। उदय हुए एक ही समय।
फिर भी है वह अनुपमेय। उस दिव्य-प्रभासे ॥ ३८ ॥

प्रभा सहस्र सूर्योंकी नभमें एक हो दिखे।
तभी उस महात्माकी प्रभासे तुल्य है नहीं ॥ १२ ॥

सभी विद्युल्लताओंका हो मिलन । तथा प्रलयाग्निके सारे सामान ।
उसीमें जो दश-तेजोंका मिलान । करने पर भी ॥ ३९ ॥

उस शरीर-कांतिके सम्मुख । पास पास आएगा देख ।
किंतु उसके सम नहीं चोख । यह निश्चित ॥ २४० ॥

ऐसा महात्म्य उसका सहज । फैलता है अंगका सब तेज ।
व्यासकी कृपासे मैं वह आज । यहां देखता हूँ ॥ ४१ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

दृश्य और दृष्टाका अद्वय-भाव—

उस विश्व-रूपमें एक ओर । जगत है अपना सविस्तर ।
रहते जैसे बुल्ले ठौर ठौर । महा-सागरमें ॥ ४२ ॥

अथवा आकाशमें गंधर्व-नगर । भूतलमें पिपीलिका बांधती घर ।
तथा परमणु मेरु-पर्वतपर । उड़ते रहते है ॥ ४३ ॥

इस भांति विश्व अपरंपार । देव चक्रवर्तिके तन पर ।
उस अवसर पांडुकुमार । देखता है ॥ ४४ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

एक विश्व वहां और एक आप । ऐसा दुजा भाव था जो अल्प स्वल्प ।
उसका भी अंतःकरणमें लोप । हुवा अचानक ॥ ४५ ॥

जागृत हुआ ब्रह्मानंद अंदर । शरीर बल खोया यहां बाहर ।
डूबा आनंद पुलकमें शरीर । अपाद-मस्तक ॥ ४६ ॥

विश्वके जो सभी भेद जैसे घुल गये तब ।
अर्जुनने वहां देखे देहमें देवदेवके ॥ १३ ॥
फिर अर्जुन साश्चर्य हर्ष रोमांच गात्रसे ।
प्रभुसे जोडके हाथ बोला हो नत मस्तक ॥ १४ ॥

वर्षाका जैसे प्रथम काल। सर्वांग हरा होता है शैल।
वैसे रोम-कूपमें सकल। खिले रोमद्रुम ॥ ४७ ॥

स्पर्श होते ही चंद्रकिरण। होता सोम-कांतका द्रवण।
तन पर वैसे स्वेद-कण। उमड़ आये ॥ ४८ ॥

फंस जानेसे जैसे अलिकुल। झूलती कमल कलि सकल।
हृदय-आनंदोर्मियोंके बल। सिहरता वैसे ॥ ४९ ॥

कर्पूर-केलिका गर्भ-पुट जैसे। छीलकर कर्पूर चूता वैसे।
अर्जुनके नयन-कमलोंसे। चूते अश्रुकण ॥ २५० ॥

सात्विकताके ये जब अष्ट भाव। परस्परमें करते हैं उछाव।
पाता है तब ब्रह्मानंदका जीव। दिव्य-साम्राज्य ॥ ५१ ॥

उदित होते ही सुधाकर। सानंद उमड़ता सागर।
बार बार वैसे उर्मि भर। आती हृदयमें ॥ ५२ ॥

अजी! सुखानुभवके कारण। कृपासे किया था द्वैत रक्षण।
आह भर करके प्रतिक्षण। देखता पार्थ ॥ ५३ ॥

मुख कर बैठा था जिस ओर। उसी ओर मस्तक नवाकर।
प्रणाम किया हाथ जोड कर। औ' किया स्तवन ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच
पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुनने कहा
हे देव देखुं तव देहमें मैं
हैं देव औ' भूत समूह सारा।
ध्यानस्थ ब्रह्मा कमलासनस्थ
महर्षि औ' नाग हैं एक साथ ॥ १५ ॥

सर्वत्र सभी तू ही तू भरा है प्रभो—

कहता है प्रभो तेरी जय जय । तव कृपासे ही यह धनंजय ।
दर्शन कर सका इस समय । यह विश्व-रूप ॥ ५५ ॥

सच ही प्रभो तूने भला किया । हृदय यह आनंदित भया ।
तू ही है यह मैंने देख लिया । आश्रय विश्वका ॥ ५६ ॥

अनेक वन जैसे मंदार पर । श्वापदों सह लगे हैं ठौर ठौर ।
वैसे ही यहां तेरे शरीर पर । भुवन हैं अनेक ॥ ५७ ॥

अथवा गोदमें आकाशके । दीखते हैं मंडल ग्रहोंके ।
होते हैं झुण्ड पक्षी-कुलके । वृक्ष पर ॥ ५८ ॥

उसी भांति हे चक्रधर । विश्वात्मक तेरा शरीर ।
स्वर्गकेलिये भी है घर । देव गणोंके ॥ ५९ ॥

स्वामी ! महाभूतोंका पंचक । देखता हूं मैं यहां अनेक ।
तथा भूत-ग्राम जो अनेक । भूत-सृष्टिके ॥ २६० ॥

तुझमें दीखता है सत्य-लोक । बैठा है ब्रह्म-देव चतुर्मुख ।
वहां उस ओर कैलास एक । देखता मैं ॥ ६१ ॥

भवानी सह महादेव । तुझमें तू दीखता केशव ।
एकांशमें तुझमें ये सर्व । दीखते यहां ॥ ६२ ॥

वैसे ही कश्यपादि ऋषि-कुल । दीखते इस मूर्तिमें सकल ।
दीखते हैं यहां सप्त पाताल । शेष-नाग सह ॥ ६३ ॥

अथवा मानो त्रिभुवन-पति । तेरे अंगांगकी एकेक भित्ति ।
चतुर्दश भुवन चित्राकृति । सजाती है ॥ ६४ ॥

तथा यहां दीखते जो जो लोक । मानो चित्र रचना है अनेक ।
गोचर होता यहां अलौकिक । तेरा गांभीर्य ॥ ६५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

देखता मैं दिव्य चक्षुसे । जहां तहां सभी ओरसे ।
भुजदंडमें भरे जैसे । महा आकाश ॥ ६६ ॥

वैसे एक ही निरंतर । देखनेसे हैं तेरे कर ।
करते संपूर्ण व्यापार । एक कालमें ॥ ६७ ॥

तथा ब्रह्मका है विस्तार । खोलता ब्रह्मांड भांडार ।
वैसा दीखता उदर । तेरा असीम ॥ ६८ ॥

कहते हैं सहस्रशीर्ष पुरुष । देखता मैं अनंत-शीर्ष पुरुष ।
लगता पर-ब्रह्म हो आया मुख । इस समय ॥ ६९ ॥

जहां तहां देखता तेरे वदन । विश्व-रूपमें जो है विराजमान ।
वहीं दीखते हैं अनंत नयन । पंक्ति बद्ध हो ॥ २७० ॥

रहने दो यह स्वर्ग पाताल । तथा धरणी दिशा अंतराल ।
इसी रूपमें भरा है सकल । मूर्तिमय हो ॥ ७१ ॥

कहीं नहीं है तेरे बिन । परमाणु-सा रिक्त स्थान ।
यह देख कहता मन । कितना व्यापक तू ॥ ७२ ॥

नाना प्राणि जात सहित । भरे हुए जो महाभूत ।
तूने व्यापलिये अनंत । देखता मैं ॥ ७३ ॥

विश्व-रूपके संबंधमें अर्जुनकी जिज्ञासा—

अनेक आँखें मुख हाथ पेट
जहां तहां देखुं अनंत मूर्ति ।
दीखे नहीं अंत न मध्य मूल
विश्वेश्वरा जो तव विश्वरूप ॥ १६ ॥

ऐसा तू कहांसे आया है । बैठा है खडा या सोया है ।
तेरी आकृति कितनी है । किस मांके उदरमें ? ॥ ७४ ॥

तेरा रूप कैसा वय कितना । तेरे आदि औ' अंतकी भावना ।
तू किस भांति है यह जानना । चाहता अब ॥ ७५ ॥

देख लिया मैंने यह संपूर्ण । तू ही है अपना स्थान श्रीकृष्ण ।
न तू किसीका औ' न है कारण । अनादि सिद्ध तू ॥ ७६ ॥

न तू बैठा है न खड़ा है । न छौटा है या न बड़ा है ।
नीचे ऊपर सर्वत्र है । केवल तू ही ॥ ७७ ॥

रूपमें है तू अपनासा । वयमें भी तू है तुझ-सा ।
उदर पीठ भी परेशा । तेरा तू है ॥ ७८ ॥

क्या कहना है अब बात । तुझमें तू पूर्ण अनंत ।
बार बार सोचके ज्ञात । हुवा यह मुझको ॥ ७९ ॥

किंतु तेरे इस रूपमें एक । रह गया व्यंग कहता देख ।
आदि मध्य अंतका निकष । नहीं दीखता ॥ २८० ॥

देखा मैंने सर्वत्र कहीं । इन बातोंका पता नहीं ।
तुझमें तीनों कहीं नहीं । ये विशुद्ध रूप ॥ ८१ ॥

ऐसा आदि मध्यांत रहित । विश्वेश्वर तू अपरिमित ।
देखा है मैंने आज तत्वतः । विश्व-रूप ॥ ८२ ॥

तू है ऐसा महा विश्व-रूप । तेरे तनमें हैं अन्य रूप ।
तभी नाना वस्त्र अपरूप । पहने हैं तूने ॥ ८३ ॥

अथवा नाना रूप द्रुमांकुर । तेरे स्वरूप-महाचल पर ।
दिव्यालंकार फल पुष्प धर । उमड आये हैं ॥ ८४ ॥

अथः तू है स्वरूप सागर । अनेक रूप मात्र ये लहर ।
या तू एक महा-वृक्ष सुंदर । फला रूप-फलोंसे ॥ ८५ ॥

भूतोंसे भरा जैसे भूतल । या नक्षत्रोंसे नभ-मंडल ।
वैसे तू मूर्ति-मय सकल । बना स्वामी ॥ ८६ ॥

तेरा एकेक अंग-प्रांत । होता जाता है त्रि-जगत ।
विश्व-रूप ऐसा है मूर्त । रोम रोममें भरा ॥ ८७ ॥

लगाकर तू ऐसा विश्व-पसारा । कौन कहांसे ले आया है शरीर ।
सोच देखा तो सारथी तू हमारा । वही जो जनार्दन ॥ ८८ ॥

सोचना हूं तब तू मुकुंद । ऐसा ही व्यापक सर्वदा ।
भक्तानुग्रहार्थ तू हो मुग्ध । बना है सारथी ॥ ८९ ॥

चतुर्भुज तू शाम मनमोहन । देखकर होते हैं तृप्त नयन ।
करनेमें तब प्रेमालिंगन । आना भुजाओंमें ॥ २९० ॥

ऐसी सुंदर मूर्ति तू सकृप । भक्तसे हो आता है विश्व-रूप ।
किंतु हमारी दृष्टि है सलेप । देखते हम सामान्य ॥ ९१ ॥

गयी है अब दृष्टिकी मलीनता । सहज दी तूने दृष्टिमें दिव्यता ।
इसीलिये जाना मैंने यथार्थता । महिमा तेरी ॥ ९२ ॥

उस मरियलके उस पार । छिपा था रूप जो ना ओर छोर ।
वह सम्मुख आया भयंकर । पहचाना मैंने ॥ ९३ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

वही मुकुट जो पस्तक पर । दीखता है यहां धरणी धर ।
अज है उसका तेज अपार । है अति विस्मय ॥ ९४ ॥

प्रभो गदा चक्र किरीट धारी
प्रकाश सर्वत्र भरा प्रचंड ।
देखा न जाता वह अप्रमेय
जला रहे सूरज अग्नि ज्योति ॥ १७ ॥

भक्त मनोरथार्थ विश्व-रूप बना ऋषिकेश—

ऊपरका जो यह हाथ । चक्रचलानेमें है रत ।
वह चिन्ह स्पष्ट है तात । विश्व-मूर्तिका ॥ ९५ ॥

वहीं दूसरे हाथमें गदा । नीचेका हाथ है निरायुध ।
रास संभालते है गोविंद । सरसाते जो ॥ ९६ ॥

तथा उसी वेगसे तू सहसा । मेरे मनोरथार्थ ऋषीकेश ।
विश्व-रूप बना है विश्वेश । जानता हूं मैं ॥ ९७ ॥

किंतु है क्या यह अतिचोज । मौका है न सोचनेका आज ।
हुवा है मेरा चित्त अबूझ । अतिशय तात ॥ ९८ ॥

यह विश्व-रूप हैं भी या नहीं । सोच ऐसा श्वास चलता नहीं ।
अंग-प्रभाकी जो यह नवाई । भरी है सर्वत्र ॥ ९९ ॥

इस तेजसे नयन झुलसता । सूर्य मलिन खद्योतसा भासता ।
ऐसी तीव्र है जिसकी अद्भुतता । यहां आज ॥ ३०० ॥

यह मानो महा-तेजका महार्णव । विश्वको डुबो देता है कर तांडव ।
युगांतका वज्रपात जैसे देव । ढक देता है ॥ १ ॥

अथवा संहार तेजकी जो ज्वाल । तोडके मंडप बांधा अंतराल ।
दिव्य-चक्षुसे अब नभ-मंडल । देखा नहीं जाता ॥ २ ॥

अधिकाधिक प्रकाश उज्वल । जलाता बनकर महाज्वाल ।
देखनेसे होती दृष्टि व्याकुल । दिव्यता होने पर भी ॥ ३ ॥

अथवा महा-प्रलयका प्रचंड । होता है जो कालाग्निरूद्रमें गूढ़ ।
उस तीसरे नयनके प्रगाढ़ । खुले हैं पलक ॥ ४ ॥

तथा फैला यह प्रकाश । पंचाग्नि-ज्वालाओंके पाश ।
करते ब्रह्मांड़का शोष । जलकर ॥ ५ ॥

तेजाराशी है जो ऐसी अद्भुत । देखता मैं आज ही हो चकित ।
तेरी कांतिकी व्याप्ति हैं अनंत । विश्व-रूप ॥ ६ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

रे तेजसे सारा विश्व संतप्त है प्रभो—

हे देव तू है अक्षर । त्रिअर्ध मात्रासे पर ।
श्रुति है जिसका घर । ढूंडती है ॥ ७ ॥

आकारका तू आयतन । विश्व निक्षेपका निधान ।
वह अव्यय तू गहन । अविनाशी जो ॥ ८ ॥

धर्मका है तू जीवन । अनादि नित्य-नूतन ।
सैंतीसवा तू महान । पुरुष विशेष ॥ ९ ॥

तू है आदि मध्यांत रहित । सर्व सामर्थ्यसे तू है अनंत ।
विश्व-बाहू तू अपरिमित । विश्व-चरण तू ॥ ३१० ॥

असीम तू अक्षर जाननेका
तू ही महा आश्रय विश्वका है ।
तू राखता शाश्वत-धर्म नित्य
मैं जानता तू परमात्म तत्व ॥ १८ ॥

अनादि मध्यांत अनंत शक्ति
अनेक भुजा मुख अग्नि-ज्योति ।
आंखें दिखे उज्वल चन्द्र सूर्य
स्वतेजसे तू जगको तपाता ॥ १९ ॥

मानो सूर्य चंद्रकी जो कला । तेरी कोप-प्रसाद लीला ।
कृपा दृष्टिसे कर संभाल । कोप कटाक्षसे क्रोध ॥ ११ ॥
इस भांति मैं अब देखता । प्रलयाग्नि तेज-सा अनंत ।
तेरे वदनकी जो दिव्यता । विस्मित होकर ॥ १२ ॥
आगसे धधकते पर्वत । निकलती ज्वालायें अद्भुत ।
जैसे चाटते हैं दाढ दांत । ज्वाला जिव्हा ॥ १३ ॥
इस वदनकी जो है ऊब । तथा सर्वांग कांतिकी प्रभा ।
करती विश्वमें अति क्षोभ । अकुलाहट भरा ॥ १४ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशाश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

जो देख अकुला रहा त्रिलोक —

भूलोक और पाताल । पृथ्वी तथा अंतराल ।
दश दिशायें आकुल । है दिशा चक्र ॥ १५ ॥
तुझसे है जो यह संपूर्ण एक । भरा हुवा देखता मैं सकौतुक ।
गगन सह डूबा है भयानक । विश्व-रूपमें ॥ १६ ॥
या रस लहरोंसे अद्भुद । चतुर्दश भुवन हैं व्याप्त ।
वैसे मैं हो अत्यंत विस्मित । देखूं क्या क्या ॥ १७ ॥
अनाकलित व्याप्ति जो असाधारण । सही न जाती रूपकी उग्रता तीक्ष्ण ।
सुख गया दूर, यहां विश्वके प्राण । निकले भयसे ॥ १८ ॥

सभी दिशा विस्तृत अंतरिक्ष
सर्वत्र तू एक हि छा रहा है ।
तेरा यही अद्भुत उग्र रूप
जो देख अकुला रहा त्रिलोक ॥ २० ॥

तुझको देखकर हे विश्वेश्वर। न जाने आया कैसे भय उभर।
डूब रहा है अब दुःख सागर। लहरियोंमें त्रिलोक ॥ १९ ॥

वैसे तुझ महात्माका दरशन। वहां क्या है भय दुःखका स्थान।
जिससे न होता सुखका ज्ञान। इसका भान है मुझे ॥ ३२० ॥

जब तक तेरा रूप नहीं देखा। तब तक जगको संसार चोखा।
देखने पर विजय विष चरवा। हुई अरुचि ॥ २१ ॥

आगे रूप नहीं होता आकलन। जिससे नहीं होता प्रेमालिंगन।
पीछे दीखता है संसार मलिन। ऐसा उभय संकट ॥ २२ ॥

तभी पीछे हठे तो संसार। जो है रुकावट अनिवार।
आगे तू अनिवार अपार। न होता आकलन ॥ २३ ॥

ऐसा है उभय संकटग्रस्त। त्रिभुवन होता है अतित्रस्त।
मेरा मत हुव ऐसा निश्चित। यह रूप देखके ॥ २४ ॥

संतापसे जो ऐसा झुरसा हुआ। उपशमार्थ सिंधुपे आया हुआ।
तरंग तांडव देख डरा हुआ। रहता है जैसे ॥ २५ ॥

ऐसा हुआ यह विश्व समस्त। तुझे देख तड़पनेमें रत।
उससे भला पैर तीर प्राप्त। ज्ञान-संपन्न देव ॥ २६ ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

विद्या-सिंधु और स्वर्ग संसार फंदोंसे मुक्तिके लिये तेरी प्रार्थना—

ये देव सारे तुझमें समाये
कोई भयग्रस्त हो बद्ध-हस्त।
मांगल्य गाके तव सिद्ध-संत
स्तवते तुझीको अनेक भांति ॥ २१ ॥

तेरे शरीरका यह जो तेज। जलाता है सारे कर्मका बीज।
जिससे तुझमें मिलते निज। सद्भावनासे ॥ २७ ॥

तथा जो हैं सहज भय-भीत। होकर तेरे पथके आश्रित।
गाते हैं तेरी प्रार्थनाके गीत। कर जोड करके ॥ २८ ॥

देव! डूबे हैं अविद्या-सिंधुमें। फंसे हैं विषय-विष-जालमें।
फंसे हैं स्वर्ग-संसार फंदोंमें। दोनों ओरसे ॥ २९ ॥

ऐसे हमको करनेमें मुक्त। कौन हैं त्रिभुवनमें समस्त।
आये हैं हम सो शरणागत। कहते हैं ये ॥ ३० ॥

तथा महर्षि अथवा सिद्ध। विद्याधर संघ जो विविध।
गाते हैं तेरा ही स्वस्तिवाद। तथा शुभ-स्तवन ॥ ३१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्र-आदित्योंके ये समुदाव। वसु साध्य आदि ये देव।
अश्विनी विश्वे-देव स-वैभव। मरुत भी वहां ॥ ३२ ॥

सुनो अग्नि तथा गंधर्व। यक्ष राक्षस गण सर्व।
महेंद्रादि जो मुख्य देव। तथा सिद्धादिक ॥ ३३ ॥

ये सब धर अपना स्वस्थान। विस्मित करते अवलोकन।
महा-मूर्तिका है दिव्य-दर्शन। देखता हूँ मैं ॥ ३४ ॥

आदित्य विश्वे वसु रुद्र साध्य
कुमार दोनों पितृ-देव वायु।
गंधर्व दैत्यों सह यक्ष सिद्ध
सारे तुझे विस्मित देखते हैं ॥ २२ ॥

फिर देखते हैं क्षणक्षण । विस्मययुत अंतःकरण ।
नत-मस्तक हो समर्पण । करते निज मुकुट ॥ ३५ ॥

जय घोषके कलरव मधुर । गूंजते हैं स्वर्गमें जो सुंदर ।
रखे हैं ललाट पर सुंदर । कर संपुट नमनार्थ ॥ ३६ ॥

वह नम्रता-वृक्ष वन सकल । खिला सात्विक वसंतसे सकाल ।
तभी उस कर-संपुटमें फल । लगा यह तेरा ॥ ३७ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नयनोंका हुवा यह भाग्योदय । या जीवोंका सुख सुकाल उदय ।
तभी हुवा तेरे रूपका सदय । भव्य दर्शन ॥ ३८ ॥

रूप है जो यह लोक-व्यापक । चहूं ओरसे दीखता सम्मुख ।
देवोंके लिये भी जो भयानक । देखके चौंकते हैं ॥ ३९ ॥

ऐसा एक किंतु है विचित्र । तथा भयानक हैं वक्त्र ।
बहु लोचन तथा सशस्त्र । भुजा असंख्य ॥ ३४० ॥

अनेक जो चारु-चरण । बहु उदर नाना-वर्ण ।
प्रति वदन मद-पूर्ण । आवेशसे ॥ ४१ ॥

अथवा महा-प्रलय समय । पाशमें बांधकर यमराय ।
प्रलयाग्नि जलाता भयमय । जहां तहां सर्वत्र ॥ ४२ ॥

या संहार त्रिपुरारिका यंत्र । या प्रलय-भैरवका जो क्षेत्र ।
अनेक युगांत शक्तिका पात्र । आगे किये विनाशार्थ ॥ ४३ ॥

विशाल है रूप असंख्य नेत्र
कराल दाढें मुख हाथ पैर ।
अनेक हैं ऊरु विशाल पेट
ये देख हूँ व्याकुल लोक मैं भी ॥ २३ ॥

वैसे जहां तहां चहूं ओर। तेरे वदन हैं भयंकर।
वहां सिंहसे दांत प्रखर। दीखते क्रोधाग्निसे ॥ ४४ ॥

देख जैसे काल रात्रिका अंधार। करते हैं पिशाच घोर संचार।
वैसे वदनमें प्रलय रुधिर। भरे हैं दांत ॥ ४५ ॥

कालने किया है जैसे युद्ध-निमंत्रण। उन्मत्त हुआ सर्व संहारक मरण।
वैसे दीखते हैं मुखमें भय लक्षण। तेरे आज ॥ ४६ ॥

बेचारे उस त्रिभुवन पर। सहज दृष्टि डाली इक बार।
वह दुःख कालिंदी तट पर। हो गया है वृक्ष ॥ ४७ ॥

रूप है यह महा-मृत्युका सागर। उठते हैं उसमें दुर्वार्ता भंवर।
त्रैलोक्य-जीवित डोंगी खाती चक्कर। उलटी आंधीमें ॥ ४८ ॥

क्रोधसे तू यदि यह कहता। लोगोंकी बात क्यों व्यर्थ करता।
इसमें तेरा क्या आता जाता। भोग तू ध्यान सुख ॥ ४९ ॥

देव! लोगोंकी बात क्या साधारण। किया है यह परदा स-कारण।
कांप रहे हैं मेरे स-देहप्राण। देखकर रूप ॥ ३५० ॥

संहार-रुद्र भी घबडाता जिससे। मृत्यु भी छिप जाता जिसके डरसे।
ऐसा महाबली मैं कांपता भयसे। ऐसा किया तूने ॥ ५१ ॥

महामारीका यह कराल रूप। भयको जो छिपाने लगता आप।
इसको कहना यदि विश्व-रूप। आश्चर्य है यह ॥ ५२ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

आकाश भेदे बहुरंगवाले
खुले मुखोंके विशाल नेत्र।
ज्वलंत तू देव तुझ देख जीव
अधीर होता सुख शांति खोता ॥ २४ ॥

महाकालसे हठ होड़कर । अनेक मुख जो क्रोधसे भर ।
आकाशको ओछा मान विस्तार । दिखाते हैं अपना ॥ ५३ ॥

नभ-विस्तार न करता आकलन । त्रिलोक पवन न करता वेष्ठन ।
जिसमेंसे ज्वाला निकलती महान । धधकती हुई ॥ ५४ ॥

इनमें हैं विविध आकार । वैसे ही हैं वर्णके प्रकार ।
प्रलयाग्नि भी लेता आधार । इत मुखोंका ॥ ५५ ॥

इतना है इनके अंगका तेज । इनसे राख होता विश्व सहज ।
एक मुखमें मुख उनमें तेज । दांत औ' दाढ भी ॥ ५६ ॥

हुवा यहां मानो वायूको धनुर्वात । समुद्र हुवा महापूरमें पतित ।
विषाग्नि मारनेमें हुवा प्रवृत्त । वड़वानलको ॥ ५७ ॥

पीता है जैसे अग्नि हालाहल । मृत्यु मरनेमें सन्नद्ध है नवल ।
संहार तेज आज निगलता खोल । मुख बन कर ॥ ५८ ॥

किंतु कैसे हैं ये विशाल । जैसे टूटा हुवा अंतराल ।
मानो आकाशका ही बिल । पड़ा है यह ॥ ५९ ॥

या वसुंधराको बगलमें दबाकर । हिरण्याक्ष घुसा जब पाताल गव्हर ।
पाताल कुहर खोला हाटकेश्वर । वक्त्र दीखते ऐसे ॥ ३६० ॥

तेरे मुखोंका ऐसा विकास । उसमें जिव्हाओंका आवेश ।
विश्व बनता अधुरा ग्रास । इसीलिये नहीं खाता ॥ ६१ ॥

तथा पातालव्यालोंका फूत्कार । विष ज्वाला जा छूती हैं अंबर ।
वैसी फैली है जिव्हा भयंकर । वदन-दरीमें ॥ ६२ ॥

प्रलय-विद्युतके झुंड लेकर । सजाये हैं जैसे गगन शिखर ।
मुखमें दीखते हैं दांत प्रखर । तथा डाढ भी वैसे ॥ ६३ ॥

जैसे ललाट परके अंचलमें । भयको ही डराते हैं अंधारमें ।
महा-मृत्युके हैं अवेग वेगमें । अंगार-सी आंखें ॥ ६४ ॥

ऐसा ले यह महा-भयका भोज । यहां क्या करने आया है तू काज ।
समझ न पा करके यह मुझ । मरण भय आया है ॥ ६५ ॥

देव ! विश्व रूप देखनेकी आस । उसका प्रतिफल है यह खास ।
उसको देखा है मैंने स-हव्यास । हुई अब आंखें शांत ॥ ६६ ॥

शरीर है यह नाशवंत पार्थीव । उसका नहीं है यहां विशेष भाव ।
अविनाशी चैतन्यका न रहा ठाव । जीने मरनेका ॥ ६७ ॥

भयमें है वैसे अंग कांपता । बढता है तब मन तापता ।
अथवा बुद्धिका बल हिलता । गलता अभिमान ॥ ६८ ॥

इन सबसे जो है निराला । केवल जो आनंदैककला ।
वह अंतरात्मा भी निश्चल । कांपता यहां ॥ ६९ ॥
लगा साक्षात्कारका वेध । नष्ट किया है सब बोध ।
ऐसा गुरु-शिष्य संबंध । मिलेगा कहां ॥ ३७० ॥
देवेश ! तेरा जो यह दर्शन । शिथिल करता अंतःकरण ।
उसको संभालनेमें जतन । करता हूं मैं ॥ ७१ ॥

धैर्य जो मेरा संपूर्ण खो गया । तूने यह विश्व-रूप दिखाया ।
तथा मुझको है उलझा दिया । उपदेशमें ॥ ७२ ॥

यहां आसरा पानेमें जीव । करता है चारों और धांव ।
उसको नहीं मिलता ठाव । इस रूपमें ॥ ७३ ॥

विश्व-रूप ऐसा महामार । निर्जीव करता है चराचर ।
तब रहे कैसे मौन होकर । देव देवेश ॥ ७४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

कल्पांत अग्नीसम दीखते है
प्रचंड मुख औ' कराल दाढ ।
दिशा न सूझे सुख-शांति नाशे
प्रसन्न हो तू जगके निवास ॥ २५ ॥

का नाश करनेवाली दैवी शक्ति—

फूटा महा-मृत्युका मशक । ऐसे जो तेरे मुख अनेक ।
नाचते हैं आंखोंके सम्मुख । फैले हुए ॥ ७५ ॥

दांत औ' डाढोंकी खुली कतार । ओंठ न छिपा सकते प्रखर ।
प्रलय-शस्त्रोंका पडा है घेर । लगा है जैसे ॥ ७६ ॥

वक्षमें भरा हालाहल जहर । काल-रात्रिमें हुवा भूत-संचार ।
या आया वज्राग्नि-अग्न्यस्त्र धर । वैसा यह रूप ॥ ७७ ॥

वैसे ही तेरा वदन विकराल । उसमें मृत्यु-रसका रेलारेल ।
फिर आवेश उमडता विपुल । हम पर ही ॥ ७८ ॥

संहार-कालका चंडानिल । महाकल्पका प्रलयानल ।
हुवा दोनोंका संहार-मेल । फिर न जलेगा क्या ॥ ७९ ॥

वैसे तेरे ये संहारमुख । देखा हुवा मेरा धैर्य खाख ।
भूला मैं अब दिशा भी देख । तथा अपनेको भी ॥ ३८० ॥

विश्व-रूप देखा क्षण काल । तथा पडा सुखका अकाल ।
समेट ले तू रूप विशाल । जो है अस्त-व्यस्त ॥ ८१ ॥

ऐसा करेगा तू यह यदि जानता । विश्व-रूपकी मैं बात भी क्यों करता ।
रक्षा कर तू प्राणकी परम-पिता । इस स्वरूप प्रलयसे ॥ ८२ ॥

ज्ञानका हेतु अर्जुनका मोह —

यदि तू स्वामी है हमारा अनंत । रक्षण कर डाल बन जीवित ।
समेटले फैलाव अपरमित । महा-मृत्युका ॥ ८३ ॥

सुन तू सकल देवोंका परम देव । चैतन्य तू तुझमें बसता विश्व सर्व ।
भूला तू सबको जीवन देना सदैव । और लगा संहारमें ॥ ८४ ॥

प्रसन्न हो त्वरित देवराय । समेट ले अपना महाकाय ।
उद्धार कर मेरा भय-मय । मृत्यु दशासे ॥ ८५ ॥

करता हूं पुनः पुनः ऐसा विनय । हुवा है इतना भय-ग्रस्त हृदय ।
विश्व रूप देख कर खाया भय । मैंने जनार्दन ॥ ८६ ॥

हुवा अमरावति पर आक्रमण । किया है मैंने अकेलेने निवारण ।
ऐसा मैं महाकालको भी कठिण । डरानेमें ॥ ८७ ॥

किंतु है यह प्रसंग दुर्धर । मृत्युको भी तूने निगलकर ।
भर लिया है मेरा भी जो कौर । विश्व सह सकल ॥ ८८ ॥

ऐसा नहीं था अब प्रलय काल । बनकर आया है तू महाकाल ।
बेचारा बना त्रिभुवन सकल । अल्पायुषी आज ॥ ८९ ॥

विधि-विधान है यह विपरीत । उठा हुवा विघ्न करनेमें शांत ।
महा-विघ्न उठ आया अकल्पित । विश्व-प्रलयका ॥ ३९० ॥

बात नहीं यह काल्पनिक । खेलकर तू अनंत-मुख ।
सैन्यका कौर लेता है देख । चहूं ओरसे तू ॥ ९१ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

ये सब कुरु-कुलके वीर । अंध धृतराष्ट्रके कुमार ।
गये रे गये स-परिवार । तेरे कराल मुखमें ॥ ९२ ॥

तथा आये हैं यहां जो देश देशके । इनके सहायक हो दौड़ दौड़के ।
न रहेंगे ये तेरे कौर बनके । नाम कहनेको भी ॥ ९३ ॥

मद-मस्त हाथियोंके जो झुंड । निगलता तू पकड पकड ।
तथा योद्धाओंको भी धड़ाधड । निगलता जाता ॥ ९४ ॥

शातघ्निके संहारक । पदचारी जो कटक ।
भरता है तेरा मुख । पता न चलता ॥ ९५ ॥

अहा ! सभी ये धृतराष्ट्र पुत्र
लेके सभी राज समूह साथ ।
ये भीष्म ये द्रोण ये सूत पुत्र
औ' वीर सारे अपने अनेक ॥ २६ ॥

कृतांतके जो जो हथियार क्रूर। निगलते एकेक स-चराचर।
निगलता तू ऐसा शस्त्र भांडार। करोडोंका ॥ ९६ ॥

चतुरंग-सेना परिवार। स-अश्व-रथ पकडकर।
दांत न लगाते विश्वेश्वर। निगलता तू ॥ ९७ ॥

भीष्मसे ऐसा है कौन। सत्यशौर्यमें प्रवीण।
तथा जो द्रोण ब्राह्मण। तूने चबाया ॥ ९८ ॥

ओ! वह सहस्र-कर-कुमार। गयारे गया व्यर्थ जो कर्ण वीर।
तथा हमारे अनेक महावीर। खा गया तू ॥ ९९ ॥

कैसा है देव! यह विधि विधान। मेरी मांगसे विश्व-रूप-दर्शन।
करता वह विश्वका निकंदन। चाहता था मैं शांति ॥ ४०० ॥

तूने कही पहले उपपत्ति। बताई थी यहां कुछ विभूति।
छोडके वह मैं हो मंदमति। मांगा दर्शन ॥ १ ॥

होनी है जो त्रिकालमें भी नहीं चूकती। बुद्धि भी उसका अनुकरण करती।
मेरे दैवमें अजी! यही बात बधीथी। उसका उपाय क्या? ॥ २ ॥

अमृत भी पहले हाथ आया। देवोंको उससे तोष न भया।
फिर कालकूटको जन्म दिया। अंतमें जैसे ॥ ३ ॥

किंतु वह था जो किंचित। निराकरण योग्य बात।
उसे किया है तब शांत। पीके शंभुने ॥ ४ ॥

जलता बवंडर अब कौन लपेटता। विष भरा आकाश कौन निगलता।
महाकालके कालसे कौन खेलता। सामर्थ्यवान हो ॥ ५ ॥

अर्जुन ऐसे शोकमें गलता। हृदयमें अति संतप्त होता।
मनोगत वह नहीं जानता। देवदेवेशका यहां ॥ ६ ॥

रमात्मका मनोगत—

कौरव मरते और मैं मारता। अर्जुन ऐसे मोहग्रस्त हुवा था।
श्रीकृष्णको उसे दूर करना था। यह रूप दिखाके ॥ ७ ॥

अजी कोई किसीको न मारता । मैं ही सबका संहार करता ।
विश्व-रूप निमित्तसे बताता । यहां श्रीहरि ॥ ८ ॥
नहीं जाननेसे यह बात । पार्थ हुवा है व्याकुलचित्त ।
तथा कांपता रहा है व्यर्थ । देखके रूप ॥ ९ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

कहता है वह देखकर अर्जुन । कवच सह ये दोनों दल महान ।
खो जाते हैं जैसे गगनमें घन । वैसे जाते मुखमें ॥ ४१० ॥
या अया है अब कल्पांतका अंत । या हुवा है क्रुद्ध विश्वपे कृतांत ।
जो है स्वर्ग पाताल सह जगत । निगलता आप ॥ ११ ॥
होता जब प्रतिकूल दैव । तब सभी संचित वैभव ।
जहांका तहां ही हो गलाव । होता नष्ट ॥ १२ ॥
दोनों ओरकी एकत्रित सेना । जाती है मुखमें एक समान ।
किंतु वहांसे कभी लौटना । नहीं दीखता ॥ १३ ॥
अशोकके पात जैसे । चबाता है ऊट वैसे ।
सेना समुह व्यर्थ वैसे । मुखमें जाता ॥ १४ ॥
यहां मुकुट सह मस्तक । दांतोंमें चूर्ण होते अनेक ।
देखता मैं यह भयानक । दृष्य इस रूपमें ॥ १५ ॥

सबको तेरे ये दांत पीस रहे हैं —

जाते त्वरासे मुखमें हि तेरे
भयान जिसमें कराल डाढ ।
चिपके हुए हैं अनेक मुंड
दीखे वहां चून बना हुवा जो ॥ २७ ॥

दांतोंमें फंसे हैं कुछ रत्न । कुछ चूर्ण हो गये हो भग्न ।
जिव्हा-मूलमें फंसा चूरन । कुछ दांतोंमें ॥ १६ ॥

विश्व-रूप है यह महाकाल । चबाता लोगोंकी देह सबल ।
किंतु जीव देहका शिर कमल । रखता आवश्य ॥ १७ ॥

वैसे शरीरमें है चोख । उत्तमांग जो शिर सम्मुख ।
महाकालके मुखमें देख । शेष रहे हैं ॥ १८ ॥

कहता है फिर अपनेसे अर्जुन । अन्य गति नहीं जो कुछ हुवा है जनन ।
करते हैं वे इस मुखमें गमन । अपने आप ॥ १९ ॥

यहा हुवा है जो सृष्ट । होता है इस मुखमें प्रविष्ट ।
निगलकर सब होता पुष्ट । विश्व-रूप काल ॥ ४२० ॥

समस्त हैं जो ब्रह्मादिक । स-वेश जाते ऊंचे मुख तक ।
पडते हैं जाके सामान्य लोक । इसी ओरके मुखमें ॥ २१ ॥

अन्य सभी हैं जो भूत-जात । जन्मते वहीं होते ग्रसित ।
किंतु इनका मुख निर्भ्रांत । न छूटता कोई ॥ २२ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥ २८ ॥

जैसे हैं महानदीके ओघ । डूबते हैं सिंधुमें अथांग ।
वैसे सभी ओरसे हैं जग । जाता इस मुखमें ॥ २३ ॥

अयुष्य पथमें प्राणि-गण । करके अहो रात्र प्रयाण ।
इस मुखमें पाते निधान । अति-वेगसे ॥ २४ ॥

जैसे नदीके जलके प्रवाह
दौडे हुए सागरमें समाते ।
वैसे समाते नर वीर सारे
सवेग तेरे जलते मुखों में ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जलते पर्वत-दरीमें जैसे । पतंग-समूह पडते वैसे ।
समस्त लोक पडते वेगसे । इस मुखमें आज ॥ २५ ॥

प्राणिमात्र जो है इसमें जाता । उसका नाम भी नहीं रहता ।
जैसे सारा पानी है सोख लेता । तपा हुवा लोह ॥ २६ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

तथा कर इतना आरोगन । नहीं होता तेरा क्षुधा-शमन ।
कैसा असामान्य यह दीपन । हुवा उदय ॥ २७ ॥

जैसे ज्वरसे उठा हुवा रोगी । या अकाल भुक्त भिक्षुक भोगी ।
वैसे तेरी जिव्हा है सदा लगी । चरनेमें ही । २८ ।

आहारका वैसे जो जो है नाम । आता तेरे निगलनेका काम ।
नहीं देखी ऐसी क्षुधा असीम । विस्मय जनक ॥ २९ ॥

उडते हुए ये जैसे पतंग
सवेग जाते जलते दियेपे ।
वैसे विनाशार्थ तेरे मुखोंमें
ये लोग सारे सवेग उड़ते ॥ २९ ॥

संसार सारा कर ग्रास होठ
तू चाटता है जलती जिभोंसे ।
लपेट सारा तव उग्र तेज
है तीन लोगोंको जला रहा जो ॥ ३० ॥

सागरका जैसे आपोशन करना । तथा मेरु-पर्वतका कौर भरना ।
संपूर्ण ब्रह्मांड ही धरके चबाना । अपनी डाढोंसे ॥ ४३० ॥

सभी दिशाओंको निगल जाना । तारागण नभके चाट जाना ।
ऐसी सहज-लालसा धरना । यह है तेरा काम ॥ ३१ ॥

जैसे भोगसे है काम बढ़ता । ईंधनसे अग्नि धू धू करता ।
वैसे खा खा कर होठ चाटता । अधिक आशासे ॥ ३२ ॥

किया कैसा यह एक ही पसारा । जिह्वाग्रपे रखा त्रिभुवन सारा ।
डाला है यह एक छोटासा कौर । वडवानलमें ॥ ३३ ॥

ऐसे हैं जो अगणित वदन । आर्य कैसे इतने त्रिभुवन ।
इससे क्षुधा न होती सहन । बढती असह्य ॥ ३४ ॥

अजी ! है यह विश्व बेचारा । वदन-ज्वालामें पडा सारा ।
दावानलका पडा है घेरा । भेडों पर यहां ॥ ३५ ॥

विश्वका ऐसा हुआ अब । देव कर्म नहीं आया तब ।
चराचर पर फैला सब । अकालका जाल ॥ ३६ ॥

विश्व-रूपका यह तेज-मंडल । बहुलियाका फैलाया हुवा जाल ।
मुख नहीं लाक्षाग्नि-ज्वाल । घेरता चराचरको ॥ ३७ ॥

जलाती कैसी अपनी दाहकता । इस बातको अग्नि नहीं जातना ।
किंतु जो जलता है वह जानता । नहीं बचते उसके प्राण ॥ ३८ ॥

अजी ! अपनी तीखी धारसे कैसे । न जानता शस्त्र-घात होता जैसे ।
अपना विनाश न जातना वैसे । हालाहल विष ॥ ३९ ॥

वैसे तुझको भी ज्ञात है नहीं । अपनी उग्रताकी बात सही ।
प्रत्येक मुखसे यहां हो रही । विनाश-लीला ॥ ४४० ॥

यदि तू है आत्मा एक । सकल विश्व-व्यापक ।
तब हमारा अंतक । हो आया कैसे ॥ ४१ ॥

छोडी मैंने जीवितकी आस । तू भी छोड दे संकोच खास ।
कह अपनी भानकी क्या खास । बात है आज ॥ ४२ ॥

अपनी उग्रताको क्यों बढ़ाता जाता। अपना ईशत्व तू क्यों नहीं स्मरता।
विश्व संभालना यदि नहीं चाहता। मेरे लिये ही स्मर तू ॥ ४३ ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

तुम कौन हो प्रभो! —

एक बार वेद-वेद्य। त्रिभुवनका तू आद्य।
विनति है विश्व-वंद्य। सुन तू मेरी ॥ ४४ ॥
ऐसा कह वह वीर। चरणपे रख शिर।
कहता है सर्वेश्वर। सुन तू विनय ॥ ४५ ॥

अपना करने समाधान। मांग विश्व-रूपका दर्शन।
औ' एक कालमें त्रिभुवन। निगल उठा तू ॥ ४६ ॥

अजी! कह तू तव है भी कौन। कहांसे पाये भीषण आनन।
शस्त्र क्यों लिये इतने महान। चमकाये हैं जो ॥ ४७ ॥

तेरा रुद्र-क्रोध भडक कर। दिखाता गगनको ओछा कर।
दिखाता है आंखें निकालकर। भयग्रस्त होता विश्व ॥ ४८ ॥

कृतांतसे क्यों इतनी होड़। कर रहा क्यों तू ऐसा अड़।
कह तू मुझसे यह गूढ़। बात जो देव ॥ ४९ ॥

सुन यह कहता अनंत। कौन तू यह पूछता पार्थ।
औ' होता क्यों ऐसा बुद्धिगत। उग्रतासे ॥ ४५० ॥

हो कौन बोलो विकराल रूपी
तुझे नमस्कार देवेश बोलो।
पहचान चाहूँ देवादिदेव
जानी न जाती करती तुम्हारी ॥ ३१ ॥

भगवान उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

सबको संहारनेवाला काल हूं—

जान तू मैं सम्मुख हूं महाकाल। लोक-संहारार्थ बढ़ता कराल।
फैलाये हैं ये जो मुख विकराल। सबको निगलने ॥ ५१ ॥

सुनकर यह अकुलाता पार्थ। पहली बातसे मैं ही संकट-ग्रस्त।
विनय की थी तेरी मैंने अनंत। हुवा प्रकट तू काल ॥ ५२ ॥

इस पर बोलनेसे कठिन। यह निराश होगा यह जान।
सत्वर कहता देव अर्जुन। और एक बात ॥ ५३ ॥

सबका जो यह चला संहार। इसमें रहे पांडव बाहर।
सुनकर यह पांडु कुमार। संम्हालता प्राण ॥ ५४ ॥

मरण महा-भयसे हो मुक्त। सुनने लगा वह ध्यान-युक्त।
श्रीकृष्ण वचन हो अनुरक्त। धनंजय ॥ ५५ ॥

पांडव तुम मेरे आत्मीय जन। इसलिये तुम्हे छोड़के अर्जुन।
अन्य सबका करने निकंदन। हुवा उद्यत यहां ॥ ५६ ॥

वज्रानलमें जैसे प्रचंड। डालना जैसे नवनीतका पिंड।
मेरे मुखमें वैसे ब्रह्मांड। देखा तूने ॥ ५७ ॥

श्रीभगवानने कहा

मैं काल उठा जग-नाशकारी
संहारने सिद्ध यहां खड़ा हूँ।
तेरे बिना ये सब नष्ट होंगे
जो हैं खडे सैनिक दोन ओर ॥ ३२ ॥

उसमें नहीं रहेगा कुछ शेष । जान तू होगा यह सब अ-शेष ।
सेनाकी चली है बकवास । व्यर्थकी जान तू ॥ ५८ ॥

बनाकर जो यह सैन्य मिलन । करते हैं विरावेशका गर्जन ।
देखते काल पर विजय स्वप्न । अपने गदा-दंडसे ॥ ५९ ॥

कहते सृष्टि पर सृष्टि करेंगे । प्रतिज्ञासे महाकालको जीतेंगे ।
तथा जगतका हम बनएंगे । एक ही कौर ॥ ४६० ॥

जगतको हम निगलेंगे । आकाशको धर जलायेंगे ।
तीर पर हम नचायेंगे । विश्वका प्राण ॥ ६१ ॥

ऐसी यह चतुरंग संपदा । करती है महाकालसे स्पर्धा ।
अपने पराक्रमका है मद । करते व्यर्थका ॥ ६२ ॥

बोलते हैं तलवारसे भी तीखा । दीखते हैं आगसे भी दाहक ।
मारनेमें कालकूटसे भी आधिक । भयानक मानते ॥ ६३ ॥

किंतु ये सब गंधर्व-नगर माल । जान तू ये हैं गेडुरीके शोर पोल ।
अथवा सब हैं ये आलेखके फल । दीखते हैं बडे ॥ ६४ ॥

अया यह मृगजलमें महापूर । सेना नही वस्त्रके सांप बनाकर ।
रखा है यहा बंड सजधजाकर । धनंजय ॥ ६५ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहिताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

यहां जो संचलित बल । मैंने ग्रास लिया सकल ।
अब चित्रके-से बेताल । निर्वीर्य हैं ये ॥ ६६ ॥

इनका जीवन सूत्र कबका टूट चुका है—

इसीलिये ऊठ पा ले तू कीर्ति
होके जयी राज्य समृद्ध भोग ।
मैंने हने हैं सब ही कभी के
निमित्त हो केवल सव्यसाची ॥ ३३ ॥

टूटा सूत्र जो था नचानेवाला। गुड्डा खंबे पर नाचनेवाला।
खींचते ही गिरेगा अलबेला। वैसे ही यहां ॥ ६७ ॥

नष्ट करने सैन्यका आकार। न लगेगा समय धनुर्धर।
इसीलिये ऊठकर सत्वर। हो बुद्धिमान ॥ ६८ ॥

तूने जब गोग्रहणके समय। मोहनास्त्र छोडा तब धनंजय।
भीरू उत्तरने भी होके निर्भय। विवस्त्र किया सबको ॥ ६९ ॥

हुए हैं आज ये उससे भी तेजोहीन। अनायास युद्ध चल आया स-सम्मान।
पा लो यश जीत कर शत्रुको अर्जुन। आकेला लडके ॥ ४७० ॥

तना नहीं हैं यहां कोरा यश। होगा सकल राज्य वैभव तेरे वश।
मुझसे मरे ये पहले ही अब शेष। निमित्त हो सव्यसाची ॥ ७१ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

ोनों सेनाओंमें केवल पांडव ही बचेंगे—

द्रोणकी परवाह न कर। भीष्मका भय भी तू न धर।
न सोच तू कैसे कर्ण पर। पाऊं विजय ॥ ७२ ॥

कौन उपाय जयद्रथ पर। करना उसकी चिंता न कर।
तथा यहां हैं जो जो महावीर। प्रसिद्ध महारथी ॥ ७३ ॥

ये एक एक तू अर्जुन। चित्रके ही सिंह मान।
गीले हाथ लीप लोपन। करना इनका ॥ ७४ ॥

ये द्रोण ये भीष्म जयद्रथादि
या कर्ण या अन्य महान योद्धा।
मैंने हने जो उनको तु मार
निःशंक जूझो जय मान तेरी ॥ ३४ ॥

इस पर क्या रहा है अर्जुन। दीखती यह युद्धकी सेना।
भास मात्र है बल-तेज-हीन। किया मैंने पहले ही ॥ ७५ ॥

यहां तूने देख लिया सब। मेरे मुख सुन लिया अब।
तभी जीवन मिटा है अब। रहा भूसा ॥ ७६ ॥

अब तू ऊठ धनुर्धर। मेरे मारे हुओंको मार।
व्यर्थका ही शोक न कर। अब तू यहां ॥ ७७ ॥

जैसे कहीं एक निशान करना। स-कौतुक उसपे तीर चलाना।
इसी भांति यहां देख तू अर्जुन। निमित्त मात्र है ॥ ७८ ॥

अजी! तेरे विरुद्ध जो भया। उसे कभीका शेर खा गया।
अभी विजय काल है आया। यशको लूट ले ॥ ७९ ॥

साभिमान फूले थे जो दायाद। तथा हुए थे विश्व-दुर्मद।
किया उनका अनायास वध। धनंजयने ॥ ४८० ॥

ऐसी यह विजय गाथा। गायेगी वांग्मय-सरिता।
लिखो अब इसको पार्थ। विश्व-पट पर ॥ ८१ ॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

ऐसी जो यह अपूर्व कथा। जिसका अपूर्ण मनोरथ।
कहता संजय कुरुनाथ। कहे ज्ञानदेव ॥ ८२ ॥

संजयने कहा

श्रीकृष्णसे यों सुनके किरीटी
जो हाथ जोडे भयभीत होके।
कर वंदना यों पुनश्च बोले
नमा हुवा गद्‌गद भावपूर्ण ॥ ३५ ॥

सत्य-लोकका तब गंगा जल । खुलता जैसे कर कल कल ।
वैसी खुली है वाग्धारा विशाल । बोलनेमें ॥ ८३ ॥

या जैसे महामेघका गर्जन । होते हैं एक कालमें गूंजन ।
या करें क्षीर-सागर मथन । करता मंदराचल ॥ ८४ ॥

ऐसा गंभीर महा-नाद । कर ये वाक्य विश्व कंद ।
बोला है जो वह अगाध । अनंत रूप ॥ ८५ ॥

सुनी ये बात अर्जुनने किंचित । सुखाया भयावेग बहुत ।
न जाने सुख या भयसे है पार्थ । कांपने लगा ॥ ८६ ॥

बोलनेमें भर आय कंठ । सहज जुडे कर संपुट ।
पुनः पुनः रखता ललाट । चरणों पर जो ॥ ८७ ॥

तथा कुछ भी नहीं बोला जाता । बोलनेमें वह गद्‌गद होता ।
सुख या भयसे नहीं जानता । आप ही करें निर्णय ॥ ८८ ॥

किंतु सुना मैंने देवकी बात । ऐसा कैसा हुवा है यह पार्थ
मैंने शब्द पर किया है अर्थ । श्लोकके यहां ॥ ८९ ॥

वैसे ही भय भीत जो अर्जुन । करता हरि पादमें वंदन ।
तथा करता है वह कथन । इस भांतिसे ॥ ९० ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुनने कहा

है योग्य जो कीर्तनसे तुम्हारे
संसार आनंद औ' प्रेम पाता ।
डरे हुए राक्षस भागते हैं
औ' पूजता सिद्ध समूह सारा ॥ ३६ ॥

अर्जुनका किया हुवा विराट स्तवन --

अर्जुन सुन मैं हूं काल । निगलना है मेरा खेल ।
श्रीकृष्ण तेरे यह बोल । मैं माता हूं ॥ ९१ ॥

किंतु तू है जो महाकाल । आज विश्व-स्थितिका वेल ।
तब क्यों संहारका खेल । यह जानता नहीं ॥ ९२ ॥

कैसे शरीरका तारुण्य तोडना । तथा कैसे वहां वार्धक्य है लाना ।
ऐसे सोचकर करनेसे न होना । स्वाभाविक है ॥ ९३ ॥

जब चार प्रहर नहीं होता । किसी भी समय क्या है अनंता ।
माध्यान्ह समय क्यों जो सविता । अस्त होगा क्या ? ॥ ९४ ॥

तू है अखंडित काल । तुझे भी है तीन वेल ।
वे भी हैं अति सबल । अपने समयमें ॥ ९५ ॥

होने लगती जब उत्पत्ति । तब लय स्थिति जो भूलती ।
जब लय स्थिति बन आती । न उत्पत्ति प्रलय ॥ ९६ ॥

आता है जब प्रलयका वेल । उत्पत्ति स्थितिका है अस्त काल ।
इसे टाल न सकता है काल । जो अनादि सिद्ध ॥ ९७ ॥

आज स्थिति-कालमें है यह जग । भोगके बहारमें करता भोग ।
अब तू निगल सकता है जग । ऐसा जँचता नहीं ॥ ९८ ॥

तब संकेतसे कहता बोल । आया है इस सेनाका ही काल ।
दिखाया यह प्रत्यक्ष सकल । तुझको अभी ॥ ९९ ॥

अर्जुनकी क्षमा याचना --

पाया जब यह संकेत । देखता तब सब पार्थ ।
संपूर्ण रूपसे जगत । स्वाभाविक है ॥ ५०० ॥

तब कहता है वह अर्जुन । सूत्रधार तू रूपका महान ।
आया है पूर्व स्थितिमें संपूर्ण । सभी यह विश्व ॥ १ ॥

अजी ! दुःख सागरमें जो पचता । उनको जिस भांति तू उभारता ।
स्मरूंगा मैं सदा यह कीर्ति-कथा । श्रीकृष्ण तेरी ॥ २ ॥

इस कीर्ति-स्मरणसे सदैव । भोगते महा-सुखका वैभव ।
हर्षामृत उर्मिपर स-भाव । डुलते जाते ॥ ३ ॥

अजी ! जीनेसे है यह जग । तुझसे करता अनुराग ।
तथा करनेसे दुष्ट-भंग । अधिकाधिक ॥ ४ ॥

किंतु त्रिभुवनके राक्षस । भय खाते तेरा हृषीकेश ।
तथा भागते हैं दिशा दस । अमर्याद ॥ ५ ॥

और ये सुर सिद्ध किन्नर । अथवा सभी सचराचर ।
देख तुझको है नमस्कार । करते सहर्ष ॥ ६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

अजी ! यहां किस कारण । राक्षस ये जो नारायण ।
न झुकते तव चरण । भागते सदैव ॥ ७ ॥

और यह तुझको क्या पूछना । इतना तो हमको भी जानना ।
सूर्योदय बाद कैसे रहना । अंधःकारका साध्य ॥ ८ ॥

तू है स्वयं-प्रकाशका आगर । और हुवा है अब जो गोचर ।
तभी निशाचरोंका है अंधार । मिटा सहज ॥ ९ ॥

अब तक जो थे हम जन । न जानते थे तेरी महान ।
महिमा उसका हुवा ज्ञान । इसी समय ॥ ५१० ॥

प्रभो न क्यों ये तुझको नमेंगे
आधार तू ब्रह्मका आदि-कर्ता
अनंत देवेश जगन्निवास
है या नहीं के पर है परेश ॥ ३७ ॥

जहांसे विविध सृष्टि-माल । फैलती भूत-ग्रामकी बेल ।
ब्रह्म जो तेरी इच्छाका फल । प्रसवता है ॥ ११ ॥

देव ! निःस्सीमत्व सदोदित । देव ! निःस्सीममें गुण अनंत ।
देव ! निःस्सीमागम्य सतत । देवेंद्र देवका ॥ १२ ॥

तू है जगत्रयका जो आश्रय । अक्षर सदाशिव है निश्चय ।
तू ही सत-असतका प्रश्रय । उससे परेका ॥ १३ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनंत रूप ॥ ३८ ॥

प्रकृति पुरुषका तू आदि । तू ही महत्तत्वकी अवधी ।
स्वयं तू है जो आदि अनादि । पुरातन पुराण ॥ १४ ॥

तू सकल विश्वका जीवन । जीव मात्रका तू ही निधान ।
भूत और भविष्यका ज्ञान । तेरे ही करमें ॥ १५ ॥

श्रुतिका तू है लोचन । स्वरूप सुख अभिन्न ।
त्रिभुवन आयतन- । का आयतन तू ॥ १६ ॥

इसीलिये तू परम । तू ही रहा महा धाम ।
कल्पांतमें महद्ब्रह्म । तुझमें विलीन ॥ १७ ॥

वास्तवमें तू ही है देव । विश्व विस्तारता सदैव ।
अनंत रूप देवदेव । अवर्णनीय ॥ १८ ॥

देवादि तू, देव पुराण आत्मा
संसारका अंतिम आसरा तू ।
तू जानता है तुझ मोक्ष-धाम
विस्तारिता विश्व अनंत रूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तदाथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

एक तू क्या नहीं है देव । तथा कहां नहीं तू देव ।
जहां जैसे ही तू है देव । नमस्कार मेरा ॥ १९ ॥

वायु है तू अनंत । यम तू नियमित ।
भूतमात्रमें नित । बसता तू अग्नि ॥ ५२० ॥

वरुण और तू सोम । सृष्टा तथा तू है ब्रह्म ।
पितमहका परम । आदि जनक तू ॥ २१ ॥

और जहां जो जो कुछ है । रूप है अथवा नहीं है ।
नमन जहां जैसा भी है । जगन्नाथ तुझको ॥ २२ ॥

तू अग्नि तू वायु समस्त देव
प्रजापते ब्रह्म-पिता सु-श्रेष्ठ ।
तुझे नमस्कार सहस्र बार
पुनः पुनः और पुनः पुनः है ॥ ३९ ॥

आगे कि पीछे सब ओर देव
सदा नमस्कार जहां जहां तू ।
उत्साह सामर्थ्य अनंत तेरा
सभी बना तू तुझमें सभी है ॥ ४० ॥

ऐसा हो सानुराग चित्त। स्तुति करता पांडुसुत ।
आगे पीछे नमन नित। कहता नमस्ते ॥ २३ ॥

पुनः देखता साद्यंत। श्रीमूर्ति जो है सतत।
तथा कहता है पार्थ। नमस्ते देव ॥ २४ ॥

देख देख कर सतत। प्रसन्न होता पार्थ-चित्त।
कहता है वह हो नत। नमस्कार देव ॥ २५ ॥

यहां चराचरमें समस्त। देखता उसीको अखंडित।
तथा करता है प्रणिपात। नमस्कार देव ॥ २६ ।

वह रूप ऐसा अद्‌भुत। आश्चर्य स्फूर्त जो अनंत।
पुनः पुनः कहता पार्थ। नमस्कार देव ॥ २७ ॥

अन्य स्तवन न सूझता। शांत रहना भी न होता।
ऐसा प्रेम भाव जगता। कहता नमस्कार ॥ २८ ॥

वास्तवमें ऐसा ही बार बार। नमन करता सहस्र बार।
फिर कहता है श्री चक्रधर। प्रणाम तेरे सम्मुख ॥ २९ ॥

देवका पेट पीठ है नहीं। इससे हमें लाभ भी नहीं।
फिर भी तेरी पीठको सही। नमस्कार स्वाभी ॥ ५३० ॥

रहा है तू मेरे पीछेसे। तभी पीछे कहता तुझसे।
सम्मुख विमुख विश्वसे। होता नहीं तेरा ॥ ३१ ॥

भिन्न भिन्न अब अवयव। नहीं जान सकता मैं देव।
तभी नमन तुझको सर्व-। सर्वात्मक स्वामी ॥ ३२ ॥

देव ! तू अनंत बल-धाम ! नमन है अमित विक्रम।
सकल काल सर्वत्र सम। सर्वेश देव ॥ ३३ ॥

अजी ! संपूर्ण अवकाशमें जैसे। आकाश ही अकाश रहता ऐसे।
सर्वत्वमें तू सर्व-व्यापी है वैसे। हुआ सर्व-सर्व ॥ ३४ ॥

अथवा तू है केवल। सब ही सब अखिल।
क्षीरार्णवमें कल्लोल। क्षीरका जैसे ॥ ३५ ॥

इसीलिये हे देव। भिन्न नहीं तू सर्व।
हुवा है अनुभव। सर्व सर्व तू है ॥ ३६ ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

किंतु तू है ऐसा महान। हमें नहीं इसका भान।
या तुझे आप्त ही मान। किया बर्ताव ॥ ३७ ॥

हुई यह बडी अनुचित बात। लिया मैंने संमार्जनमें अमृत।
कामधेनु देकर किया स्वीकृत। गर्दभ-शावक ॥ ३८ ॥

चट्टान मिला था हमको पारसका। तोडके आधार बनाया मकानका।
औ' काटकर बनाया सुर-तरुका। खोंडा बगियामें ॥ ३९ ॥

हाथ लगी थी चिंतामणिकी खान। किया जो गोरु हांकनेका साधन।
वैसे तेरी समीपताके कारण। खोया महत्व ॥ ५४० ॥

यह क्या युद्ध तथा इसका मूल्य। परंतु है तू परब्रह्म अमूल्य।
फिर भी आज दिया है तुझे कार्य। सारथी बनाके ॥ ४१ ॥

उन कौरवोंके घर। शिष्टाईमें चक्रधर।
बेचा है तू सर्वेश्वर। सामान्य बातमें ॥ ४२ ॥

योगियोंका तू समाधिसुख। यह नहीं जनता मैं मूर्ख।
तेरा उपरोध मैं सन्मुख। तुझसे ही करता ॥ ४३ ॥

समान माना अविनीत होके
हे कृष्ण हे यादव हे सखा जो।
न जानके ये महिमा तिहारी
प्रमाद या प्रेमसे ही पुकारा ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे आदि अनादि पुरुष ! तुझसे हंसी-विनोद किया क्षमा कर —

इस विश्वका तू अनादिमूल । जहां जब मिला हंसीके बोल ।
बोला सगाईके नाते केवल । विनोदसे बहु ॥ ४४ ॥

आते थे हम जब तेरे सदन । पाते थे तुझसे ही बहु सम्मान ।
तो भी अति लगावसे जनार्दन । बैठते थे रूठके ॥ ४५ ॥

समझाना हमारे पांव छूकर । तुझसे है इस भांति चक्रधर ।
बैठते जैसे हटके रूठ कर । ऐसे किया बहुत ॥ ४६ ॥

आत्मीय-जन भावके नाते । उलटे हो हम थे बैठते ।
ऐसे प्रकार किसे सोहते । भूल हुयी स्वामी ॥ ४७ ॥

अरे ! कलाबाजी कर देवसे । आखाडेमें भिडते थे मस्तीसे ।
सतरंजमें आ अति-क्रोधसे । लड़ते थे देव ॥ ४८ ॥

जो चाहा जो तुझसे मांगना । तुझको ही उपदेश करना ।
"तुझसे क्या हमारा !" भी बोलना । हमारी उद्दंडता ॥ ४९ ॥

ऐसे हैं हमारे अनंत अपराध । त्रिलोकमें नहीं समाते अगाध ।
तेरे चरण छू लेता कर सौगंध । था यह सब अज्ञानसे ॥ ५५० ॥

भोजनके समय देव । रखते स्मरण सदैव ।
किंतु मूर्ख मैं जो सगर्व । अडके बैठता ॥ ५१ ॥

खेला फिरा साथ जीमा कि सोया
एकांतमें या सबके समक्ष ।
तथा हंसी की तुझ तुच्छ माना
क्षमा करो भान तेरा किसे है ॥ ४२ ॥

जाके देवके अंतरगृहमें । खेलते शंका न लाता मनमें ।
इतना क्या लुड़कता शैय्यामें । साथ ही देव ॥ ५२ ॥

कृष्ण कहके ही पुकारता । यादव कह तुझे देखता ।
अपनी सौगंध भी खिलाता । जाते हुए तुझे ॥ ५३ ॥

एकासन पर देव ! बैठना । सदैव तेरी अवज्ञा करना ।
अति-स्नेहसे ऐसा बरतना । हुवा देव ॥ ५४ ॥

इसीलिये यह क्या क्या सब । कहूं मैं स्वामी तुझसे अब ।
मैं हूं अपराध ढेर सब । रहा अनंत ॥ ५५ ॥

प्रभो तेरे सम्मुख या विमुख । की हैं भली बुरी बाते अनेक ।
मां जैसे निभाती है शिशुकी चूक । वैसे निभा लेना मुझे ॥ ५६ ॥

जब कभी ले आती है सरिता । गंदा पानीका प्रवाह बहता ।
तब कैसे सागर समा लेता । उलचास नहीं अन्य ॥ ५७ ॥

वैसे प्रीति या स-प्रमाद । मुझसे हुआ जो विरोध ।
या बोला कुछ भी मुकुंद । उपहासकी बात ॥ ५८ ॥

तथा देवके क्षमत्वसे क्षमा । आधार है जो सब भूत-ग्राम ।
इसीलिए है श्री पुरुषोत्तम । तुझसे मांगता अल्प ॥ ५९ ॥

तभी कर तू अप्रमेय । शरणागत धनंजय ।
जिसे तूने अपना लिया । क्षमा कर अपराध ॥ ५६० ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

तू है पिता स्थावर जंगमोंका
तू है बड़ा ही गुरु पूजनीय ।
त्रिलोकमें ना तुझ तुल्य कोई
कहांसे आये अनुमप्रभावी ॥ ४३ ॥

मुझे हुवा अब इसका ज्ञान । जाना देवकी महिमा महान ।
देव है यहां उत्पत्ति स्थान । चराचरका सब ॥ ६१ ॥

हरिहरादि जो है समस्त । उनका तू परम दैवत ।
वेदोंका भी है जो ज्ञानदात । तू ही आदि-गुरु ॥ ६२ ॥

गंभीर है तू श्रीराम । विविध भूतैक सम ।
सकल गुण अप्रतिम । अद्वितीय ॥ ६३ ॥

कोई नहीं है तेरे समान । यह कहनेका क्या कारण ।
तुझसे ही हुवा है गगन । उसमें समाया विश्व ॥ ६४ ॥

ऐसे तेरे समान है अन्य कोई । कहनेमें वाणी अत्यंत लजाई ।
वहां अधिककी क्या बात आई । कहनेकी देव ॥ ६५ ॥

इसीलिये त्रिभुवनमें तू एक । कोई नहीं तुझसे अधिक ।
तेरा महिमा ही ऐसे अलौकिक । नहीं होता बखान ॥ ६६ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

ऐसे कह कर जो अर्जुन । करता दंडवत नमन ।
आया सात्विकताका उफान । लहराकर ॥ ६७ ॥

कहता तब प्रसीद प्रसीद । वाचा होती है अतीव गद्‌गद ।
उभार ले तू मुझे अपराध- । सागरसे देव ॥ ६८ ॥

विश्व-सुहृदको सगा मान । नहीं किया उचित सन्मान ।
तुझ ईश्वरमें सा-भिमान । किया प्रभुत्व ॥ ६९ ॥

इसीलिये मैं करता प्रणाम
प्रसन्न हो तू स्तवनीय देव ।
क्षमा करो जी मुझ पुत्र मान
सखा सखाको प्रिय ज्यों प्रियाको ॥ ४४ ॥

वर्णनीय तू प्रमक कारण । करता सभाम मरा वर्णन ।
तब सगर्व अपना बखान । करता मैं अधिक ॥ ७० ॥

ऐसे हैं कितने ही अपराध । उनकी मर्यादा नहीं गोविंद ।
क्षमा कर लक्ष लक्ष प्रमाद । प्रसाद रूप तू ॥ ७१ ॥

किंतु ऐसे विनय करनेमें । योग्यता कहां है देव मुझमें ।
शिशु जैसे पिताके दुलारमें । बोलता वैसे ही ॥ ७२ ॥

पिता पुत्रके अपराध । कितने भी हों वे अगाध ।
सहता है पिता निर्द्वंद्व । वैसे सह ले तू ॥ ७३ ॥

सखाकी उद्धतता । सखा शांत सहता ।
वैसे ही हे अनंत । सहन कर तू ॥ ७४ ॥

प्रियमें कभी सम्मान । न करता प्रिय जान ।
आप उठाये झूठन । क्षमा करोजी ॥ ७५ ॥

या होता जहां जी-लगे स्नेहीका मिलन । कहा जाता जीवन संकटमें कथन ।
ऐसा करनेमें वहां आत्म-निवेदन । न होता संकोच ॥ ७६ ॥

जिसने किया तन-मन अर्पण । प्रेमादर-युत पतिके चरण ।
मिलनसे होता सर्वस्व कथन । स्वाभाविक वैसे ॥ ७७ ॥

वैसे ही देव मैंने अब । कह डाला तुझसे सब ।
दूसरा हेतु रहा कब । अपना स्वामी ॥ ७८ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अपूर्व देखा अपरूप दृष्य
तो भी बना व्याकुल चित्त मेरा ।
मुझे बताओ प्रभु मूल रूप
प्रसन्न हो तू जगका निवास ॥ ४५ ॥

फिर भी किया मैंने देवसे प्यार । मांग की विश्व-रूपकी जिद्द कर ।
पूर्ण की जो माय-बाप बन कर । स्नेहार्थ देव ॥ ७९ ॥

गाछ जो सुर-तरुका । अंगनमें लगानेका ।
बाछा भी काम-धेनुका । दिया खेलने ॥ ५८० ॥

मेरा नक्षत्रोंका दांव लगाना । चंद्रको गेंद बनाके खेलना ।
ऐसी धुनको भी पूर्ण करना । माता बनकर ॥ ८१ ॥

अमृत-बिंदुके लिये करते यत्न । उसकी वर्षा चारमास रात दिन ।
जिससे हर बालका जो कणकण । चिंतामणि हुवा ॥ ८२ ॥

तूने ऐसा कृतार्थ किया । बहु अधिक स्नेह दिया ।
परम-ब्रह्मको दिखाया । जो नहीं सुनाथा ॥ ८३ ॥

कैसा होगा इसका प्रत्यक्ष दर्शन । न होता उपनिषदोंको आकलन ।
हृदयकी ऐसी जो गिरह महान । मुझसे खोली प्रभु ॥ ८४ ॥

देव ! कल्पके आदिसे । इस क्षण तक ऐसे ।
हुए मेरे कितनेसे । यहां जन्म ॥ ८५ ॥

किया मैंने इन जन्मोंका संपूर्ण । खोज खोज कर अवलोकन ।
विश्व-रूप-श्रवणका भी स्मरण । वहां नहीं मिला ॥ ८६ ॥

अजी ! बुद्धि-शक्ति या ज्ञान । न जाता जिसके अंगन ।
कल्पना भी अंतःकरण । कर न सकता ॥ ८७ ॥

तब इसका दर्शन होना । इसकी कैसी करें कल्पना ।
कभी न देखा या सुना । ऐसा हुवा कहीं ॥ ८८ ॥

ऐसा यह विश्व-रूप । दिखाया मुझे अनूप ।
जिससे स्वरूप-रूप । हुवा चित्त ॥ ८९ ॥

चतुर्भुज सौम्य रूप दर्शनकी कामना—

अब रही एक कामना । तुझसे सानंद बात करना ।
तथा सामिप्यको अनुभवना । आलिंगनसे ॥ ५९० ॥

इस रूपसे यह कैसे करना । तब किस मुखसे कहो बोलना ।
अनंतको कैसे अंकमें भरना । नहीं होता यह देव ॥ ९१ ॥

तभी वायुके साथ दौडना। गगनको आलिंगन देना।
अथवा जल-क्रीडा करना। महा सागरमें ॥ ९२ ॥

ऐसे करनेमें देव। भय-ग्रस्त होता जीव।
विश्व-रूप तू केशव। समेट लेना ॥ ९३ ॥

घूम फिर देखना चराचर। सुखसे रहनेमें होना घर।
वैसे चतुर्भुज है मनोहर। निवास देव ॥ ९४ ॥

योगाभ्यासका अनुभव। शास्त्राध्ययनका भी देव।
अंतिम सिद्धांत केशव। यही एक ॥ ९५ ॥

हमने यज्ञ किये सकल। उस फलका भी यही फल।
दान-पुण्यका भी है केवल। यही कारण ॥ ९६ ॥

अन्य दान-पुण्यका कारण। तीर्थ-यात्रादि जो है साधन।
इसका कारण है दर्शन। चतुर्भुजका सतत ॥ ९७ ॥

चतुर्भुज दर्शनका जो चाव। बनाता उतावला केशव।
वह व्याकुलता वासुदेव। दूर कर सत्वर ॥ ९८ ॥

अजी! अंतःकरणका ज्ञाता। सकल विश्वका रचयिता।
पूजित देवोंसे भी पूजित। तू हो प्रसन्न ॥ ९९ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्र बाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

जैसे नीलोत्पल रंजन। रंगता जो सदा गगन।
तेजका ओज देता रत्न। इंद्र-नीलको ॥ ६०० ॥

हो तू गदा चक्र किरीट-धारी
चाहूँ यही मैं तव रूप देखुं।
संवार कर तू अनंत बाहू
चतुर्भुजा रूप बन विश्व-मूर्ते ॥ ४६ ॥

या परिमल आया मरगज । आनंदमें उमड आये भुज ।
गोदमें खेला सो मकरध्वज । हुवा सुंदर ॥ १ ॥

अजी ! मस्तकपर रखा मुकुट । मस्तक बना-मुकुटका मुकुट ।
श्रंगारमें हुवा सौंदर्य प्रकट । शरीरसे ही ॥ २ ॥

जैसे इंद्र-धनुषका जो वर्तुल । घेरता मेघको गगन-मंडल ।
वैसे देवके शरीरको शामल । माला वैजयंती ॥ ३ ॥

कैसी वह है उदार गदा । मोक्ष देती असुरोंको सदा ।
वैसे ही चक्र वह गोविंद । सोहता सौम्य तेजसे ॥ ४ ॥

वैसे ही रूप शाम-सुंदर । देखनेको शिशु है आतुर ।
इसीलिये प्रभु तू सत्वर । बन जा वैसे ॥ ५ ॥

विश्व-रूपका उत्सव देख । शिथिल हुई है मेरी आंख ।
अब हुई हैं अति उत्सुक । कृष्ण-मूर्तिके लिये ॥ ६ ॥

कृष्ण-रूप वह जो साकार । उसके विना सूना संसार ।
विश्व-रूप भी जो है असार । मानती आंखें ॥ ७ ॥

भोग मोक्षमें हमें कभी कहीं । श्रीमूर्तिके विना कुछ भी नहीं ।
इसीलिये अब साकार होई । समेटले यह रूप ॥ ८ ॥

भगवान उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवानने कहा

प्रसन्न होके निज-योग द्वारा
तुझे दिखाया यह विश्वरूप ।
अनंत तेजोमय आद्य पूज्य
देखा किसीने तुझसे न पूर्व ॥ ४७ ॥

र्जुनका गंवारापन—

सुन अर्जुनकी यह बात। विश्व-रूप हुवा जो विस्मित।
कहता ऐसा अव्यवस्थित। देखा न कोई ॥ ९ ॥

कैसी वस्तु हुई यह प्राप्त। इस लाभसे न होता मुदित।
कैसे भयसे करता बात। सनकी बनकर ॥ ६१० ॥

होते जब हम सहज प्रसन्न। निहाल कर देते हैं तन मन।
किसे देना यह वैभव अर्जुन। ऐसा कभी हुवा क्या ॥ ११ ॥

अपना सर्वस्व बटोर। खडा किया यह सुन्दर।
तेरे लिये है धनुर्धर। विश्व-रूप ॥ १२ ॥

यही जो अपर अपार। स्वरूप मेरा परात्पर।
यहींसे सब अवतार। कृष्णादिक ॥ १३ ॥

तेरे चाहके ही कारण। पगलाई है कृपा जान।
औ' इस गौप्यका महान। ध्वज उभारा ॥ १४ ॥

ज्ञान-तेजसे जो निखिल। यह विश्वात्मक केवल।
अनंत रूप है अचल। सबका आद्य ॥ १५ ॥

तेरे बिना यह अर्जुन। किसीने न देखा सुना जान।
नहीं इसके योग्य साधन। इसीलिये ॥ १६ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

घोखाइसे वेद न यज्ञ द्वारा
या दान देके ना उग्र तपसे।
तेरे बिना दर्शन है किसीको
हुवा नहीं जो जगमें अशक्य ॥ ४८ ॥

इसकी खोजमें जो गये। वेद वे मौन बैठ गये।
यज्ञ वैसे ही लौट आये। स्वर्गसे ही ॥ १७ ॥

साधकोंने देखा मात्र त्रास। इसीलिये सूखा योगाभ्यास।
तथा स्वाध्यायमें न सौरस। रूप-दर्शनका ॥ १८ ॥

पूर्ण आचरित सत्कर्म। दौडे हो अतीव संभ्रम।
करके अतिशय श्रम। पाया सत्यलोक ॥ १९ ॥

तपने देखा प्रभुत्व। छोडा अपना उग्रत्व।
तप-साधनसे तत्व। रहा अपरांतर ॥ ६२० ॥

वह तूने यहां अनायाससे। देखा स्वाभाविक ही उल्हाससे।
मनुष्य-लोकमें किसीको वैसे। असंभव जान ॥ २१ ॥

ध्यान-रूप संपत्तिके कारण। तू एकमेव है यहां अर्जुन।
ऐसा नहीं परम-भाग्यवान। ब्रह्मदेव भी ॥ २२ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम्
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अर्जुनका अनाडीपन—

तभी यह विश्व-रूप महान। इसका तू भय नहीं मान।
इससे कुछ भी श्रेष्ठ महान। अपने चित्तमें ॥ २३ ॥
अजी! छलक रहा अमृत सागर। भाग्यसे पहुंचा कोई उसके तीर।
तब मरनेके भयसे तजकर। भागेगा क्या वहांसे ॥ २४ ॥

धरो नहीं व्याकुल मूढ भाव
निहार मेरा यह घोर रूप।
भय छोड़ तू हो प्रसन्न-चित्त
निहार मेरा प्रिय पूर्व रूप ॥ ४९ ॥

अथवा देखा सुवर्णका टीला । उसको उठावूं मैं कैसे भला ।
कहके यह उसे छोड चला । ऐसे होता क्या ? ॥ २५ ॥

अथवा मानो चिंतामणि मिला । इस बोझको उठावूं क्यों भला ।
कामधेनु पालनेका झमेला । कह छोडेगा कोयी ? ॥ २६ ॥

अथवा घरमें आया चन्द्रमा । इससे होता है बडा ही उष्मा ।
या सूर्यसे होती छायाकी कालिमा । मान तजेंगे क्या ? ॥ २७ ॥

वैसे ऐश्वर्य जो है महा-तेज । आया तेरे हाथमें जो सहज ।
और तू अकुलाया अचरज । कहना क्या ? ॥ २८ ॥

अरे ! है तू कितना गंवार । तुझे कहूं क्या मैं धनुर्धर ।
गले मिलता छोड शरीर । छायाके तू ॥ २९ ॥

विश्व-रूप मेरा निज-रूप । वहां बनाकर मन विरूप ।
प्रेम करता है तू क्षुद्र-रूप । चतुर्भुजसे ॥ ६३० ॥

इतने पर भी छोड तू पार्थ । विश्व-रूपकी यह अनास्था ।
इसके विषयमें धर आस्था । श्रद्धा-पूर्वक ॥ ३१ ॥

यदि विश्व-रूप है भयंकर । न दीखता उसका ओर छोर ।
किंतु है वह निश्चयका घर । उपासनामें ॥ ३२ ॥

जैसे है कृपणकी चित्तवृत्ति । गढे धनमें उलझी रहती ।
केवल शरीर करता कृति । करना वैसे ॥ ३३ ॥

अथवा अपने चकुलेमें सब जीव । उलझाकर उडती पक्षिणी सदैव ।
अंतरिक्षमें करने अपना निभाव । लाचारीसे ॥ ३४ ॥

अथवा गाय चरती है बाहर । मन लगा है बछडेके ऊपर ।
वैसे तू नित्य इसपे प्रेम कर । अपने स्वामित्वसे ॥ ३५ ॥

वैसे सामान्य चित्त । सख्य-सुख निमित्त ।
पूज तू मूर्तिमंत । चतुर्भुज ॥ ३६ ॥

किंतु कहता हूं सुन अर्जुन । यह बात कभी नहीं न भूलना ।
इस स्वरूप विषय भावना । करना स्थिर ॥ ३७ ॥

कभी किसीने जो देखा नहीं था। सो देख तू भय-भीत हुवा था।
संचित प्रेम-सर्वस्व जो भी था। रख वह यहीं पर ॥ ३८ ॥

अब तू जैसा ही है कहता। वैसे शांत रूप मैं धरता।
विश्वतोमुख यह कहता। तू निहार अब ॥ ३९ ॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

विश्वरूप विसर्जन —

ऐसा वाक्य कह वह तत्क्षण। मनुष्य हुवा देव विलक्षण।
कहें क्या प्रेमका वह लक्षण। लीला-कौतुक ॥ ६४० ॥

श्रीकृष्ण है कैवल्यधाम प्रकट। देता है सर्वस्व विश्व-रूप श्रेष्ठ।
किंतु न भाता अर्जुनको जो शिष्ट। वह रूप अद्‌भुत ॥ ४१ ॥

जैसे कोई वस्तु लेकर लौटाना। रत्नोंका खोट निकालते बैठना।
अथवा कन्या देखकर कहना। यह मन-भाया नहीं ॥ ४२ ॥

दिखा दी उसको विश्व-रूपकी जो दशा। इससे दीखता प्रेम विकास है कैसा।
देवने दिया रहस्यमय उपदेश। धनंजयको ॥ ४३ ॥

सुवर्णका छड गलाकर। किया जो आभूषण सुन्दर।
नहीं हुवा उसका स्वीकार। गलाया पुनः ॥ ४४ ॥

संजयने कहा

ऐसा कहा श्रीहरिने तुरंत
तथा दिखाया वह पूर्व-रूप।
आश्वस्त करने डरे हुएको
हुवा पुनः सौम्य उदार देव ॥ ५० ॥

वैसे शिष्यके प्रेममें आकर। कृष्णत्वको पूर्ण गलाकर।
लिया जो विश्व-रूप भयंकर। बना फिर श्रीकृष्ण ॥ ४५ ॥

अजी! शिष्यका दिया यह त्रास। सहनेवाले गुरु कहां कौन देश।
न जाने कैसे हरिका प्रेम-विकास। कहता है संजय ॥ ४६ ॥

विश्व-रूपका यह योग विस्तार। समा लिया अपनेमें ही सत्वर।
तथा प्रकटा कृष्ण-रूप सुन्दर। क्षण भरमें ॥ ४७ ॥

जैसे त्वं पद होता संपूर्ण। तत् पदमें लीन सर्व रूपेण।
वृक्ष मिटा होता बीज-कण। यह उसी भांति ॥ ४८ ॥

अथवा स्वप्न-संभ्रम जैसा। निगलता जागृत जीव-दशा।
श्रीकृष्णने योग-विस्तार वैसा। समा लिया अपनेमें ॥ ४९ ॥

जैसे सूर्यादिका तेज बिंबमें। घनादिका जल गगनमें।
ज्वारका जल सब समुद्रमें। वैसे नरेंद्र ॥ ६५० ॥

अथवा कृष्ण रूपका थान। खोल दिया विश्व-रूप दर्शन।
दिखाता स-कौतुक जनार्दन। प्रिय अर्जुनको ॥ ५१ ॥

मानो तब उसका आकार प्रकार। गाहक कहता है देखकर।
यह नहीं हमारे मन अनुसार। और समेटा थान ॥ ५२ ॥

अपना पसारा फैलाकर। विश्वको किया सहज पार।
उसे समेट हुवा साकार। बना मन-मोहन ॥ ५३ ॥

इह भाग्य अर्जुनको मिला जो किसीको नहीं मिला था—

अथवा हुवा अनंत। जैसे था बना जो सांत।
पार्थको करने शांत। था जो अधीर ॥ ५४ ॥

जैसे देखता है स्वर्ग स्वप्नमें। जगते ही पाता बिछावनमें।
ऐसे ही पार्थको क्षण-भरमें। हुवा अति विस्मय ॥ ५५ ॥

अथवा गुरु-कृपासे संपूर्ण। प्रपंच-ज्ञान होता है क्षीण।
तथा होता पर-ब्रह्म स्फुरण। वैसा देखा कृष्ण-रूप ॥ ५६ ॥

सोचता था पार्थ चितमें एक। विश्व-रूपके परदेको रोक।
वह गया बड़ा ही हुवा नेक। मेरे हितमें ॥ ५७ ॥

आया जैसे कालको जीतकर। अथवा बवंडर चीरकर।
या सप्त-सागर तैरकर। अपने बाहूसे ॥ ५८ ॥

उसे हुवा ऐसा अति-संतोष। माना पार्थने परम-उल्लास।
देख कर श्रीकृष्णको स-हास। विश्व-रूपके नंतर ॥ ५९ ॥

सूर्यके होते ही अस्तमान। नक्षत्रोंसे भरता गगन।
वैसे देखने लगा अर्जुन। लोगों सह पृथ्वी ॥ ६६० ॥

देखता वैसे ही कुरु-क्षेत्र। दोनों ओर हैं वैसे सगोत्र।
रण-सज्ज वीर ले शस्त्रास्त्र। चलाते हुए ॥ ६१ ॥

रण-मध्यमें वहां सब शांत। वैसा ही रथ खडा है रक्षित।
बैठा है उसमें श्रीलक्ष्मी-कांत। अपने पास ॥ ६२ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

एवं पहले जैसे था वैसे। देखा यह वीर्य-विलाससे।
फिर कहता जिया मैं ऐसे। हुवा अब ॥ ६३ ॥

बुद्धिको छोड कर ज्ञान। भयसे गया था जो वन।
अहंकार सह है मन। भाग गया था ॥ ६४ ॥

इन्द्रियां प्रवृत्ति भूल गयी थीं। भाषा प्राणसे वंचित हुई थीं।
शरीर-ग्राममें अव्यवस्था थी। अभूतपूर्व ॥ ६५ ॥

हुवे वे सब अब प्रफुल्लित। प्रकृति हुई फिरसे जीवित।
अब हुवा पुनरुज्जीवित। ऐसे लगता मुझे ॥ ६६ ॥

जीवने ऐसा सुख पा लिया। फिर कृष्णसे है कह दिया।
मैंने तेरा वह जो पा लिया। यह मानवी रूप ॥ ६७ ॥

अर्जुनने कहा

देखके यह जो सौम्य मानवी-रूप माधव।
हुवा प्रसन्न औ' शांत आया मैं निज भावमें ॥ ५१ ॥